धर्म-ध्यान : एक अनुचिन्तन

—कन्हैयालाल लोढ़ा

तात्त्विक दृष्टि से साधना के तीन अंग हैं—(१) पुण्य, (२) संवर और, (३) निर्जरा। पाप प्रवृत्तियों को त्यागकर सद्-प्रवृत्तियों को अपनाना पुण्य है। पुण्य से आत्मा पवित्र होती है, इससे संवर और निर्जरा की भूमिका तैयार होती है, पुण्य आत्मोत्थान में सहायक है बाधक नहीं। मन, वचन, काया व इन्द्रियों का संवरण (संकोच) करना संवर है। संवर निवृत्ति व निषेधपरक साधना है। पूर्वसंचित कर्मों के तादात्म्य को तोड़ना निर्जरा है। पुण्य से उदयमान (विद्यमान) कर्मों का उदात्तीकरण होता है जो पाप या राग को गलाता है, आत्मा को पवित्र करता है। संवर से नवीन कर्मों का बन्ध रुकता है और निर्जरा से पूर्वकर्मों का बन्ध या सम्बन्ध टूटता है अर्थात् निर्जरा या तप से चेतन का जड़ से तादात्म्य टूटता है। तादात्म्य तोड़ने के लिए तप का विधान है।

तप दो प्रकार का है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। अनशन, ऊनोदरी आदि बाह्य तप बहिर्मुखी वृत्तियों का संग तोड़ते हैं। प्रायश्चित्त, विनय आदि आभ्यन्तर तप राग-द्वेष आदि आन्तरिक वृत्तियों का संग तोड़ते हैं। ध्यान आभ्यन्तर तप है। आभ्यन्तर तप अन्तर्मुखी अवस्था में होता है। अन्तर्मुखी होने का अर्थ है अपनी देह के भीतर के जगत में स्थित हो जाना/विचरण करना। अतः ध्यान आन्तरिक अनुभूति है। ध्यान साधक अपने अन्तर्जगत में विचरण करता है और जहाँ-जहाँ तादात्म्य घनीभूत ग्रन्थियाँ है, जड़ता है, वहाँ-वहाँ चित्त की एकाग्रता की तीक्ष्णता में ग्रन्थियों का वेधन कर व धुनकर क्षय करता है। चित्त की एकाग्रता अनित्य बोधमय समता से सधती है। समताभाव का ही दूसरा नाम सामायिक है। सामायिक ही सब साधनाओं का हार्द है। सामायिक साधना से जितना-जितना पर से अपना तादात्म्य टूटता जाता है उतना-उतना साधक स्व की ओर उन्मुख होता जाता है। पूर्ण तादात्म्य टूटने पर साधक देहातीत व लोकातीत हो स्व में स्थित हो जाता है जिससे उसे स्व के अविनाशी, निराकुल स्वरूप का अनुभव होता है। परन्तु यह रहस्य वे ही ध्यान-साधक जान पाते हैं जिन्होंने ध्यान का प्रयोगात्मक अभ्यास किया है व ध्यान की गहराई में उतरकर स्वानुभव किया है। प्रस्तुत लेख में इसी दृष्टि से धर्म-ध्यान के समय होने वाले अन्तरानुभव विषयक आगमिक कथन का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वभाव में स्थित होना धर्म है। परभाव या विभाव को प्राप्त होना अधर्म है, पाप है। स्वभाव वह है जो सभी को अभीष्ट हो। सभी सचेतन प्राणियों को अमरत्व-अविनाशीपन पसंद है, इष्ट है; किसी भी प्राणी को मृत्यु या विनाश पसंद नहीं है, इष्ट नहीं है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि चेतन का स्वभाव है अविनाशीपन; और विनाशीपन परभाव या विभाव है। अविनाशी के ही पर्यायवाची हैं अमरत्व, ध्रुवता, नित्यता और विनाशीपन के पर्यायवाची हैं मृत्यु, व्यय, अनित्यता।

व्यय उसी का होता है जिसकी उत्पत्ति होती है। अतः व्यय का सम्बन्ध उत्पाद से जुड़ा हुआ है। इससे यह फलित हुआ कि उत्पाद-व्यय परभाव हैं, विभाव हैं और उत्पाद-व्यय का ज्ञाता ध्रुव स्वभाव है। स्वभावरूप धर्म को जानने के लिए स्वभाव और विभाव दोनों का ज्ञान होना आवश्यक है। स्वभाव है ध्रुवत्व और विभाव है उत्पाद-व्यय। अतः उत्पाद-व्यय, ध्रुवत्व के ज्ञान में ही धर्म का सम्पूर्ण ज्ञान समाहित है। उत्पाद-व्ययरूप परभाव या विभाव का त्याग कर ध्रुवत्व को प्राप्त होना ही स्वभाव या धर्म है। स्वभाव को प्राप्त होना साध्यरूप धर्म है। साध्यरूप धर्म की प्राप्ति के लिए उत्पाद-व्यय युक्त वस्तुओं व सुख का त्याग, 'साधना' रूप धर्म है। यह साधनारूप धर्म कारण में कार्य का उपचार कर कहा है। धर्म को उपलब्ध करने की साधना ही धर्म-क्रिया या धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के चार प्रकार हैं—

(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय,
(३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय।

आज्ञाविचय—"सच्चाए आणाए" (आचारांग सूत्र) सत्य ही आज्ञा है। सत्य वह है जिसकी सत्ता सदा बनी रहे, जो शाश्वत है, ध्रुव है। अतः शाश्वत व ध्रुवत्व में विचरण करना आज्ञाविचय है। विचय का अर्थ है अन्तर्लोक में अनुभूतिपूर्वक विचरण व विचार करना।

अन्तर्मुखी होकर अन्तर्लोक में आत्म-निरीक्षण करने पर स्थूल औदारिक शरीर में सर्वत्र उदयमान संवेदनाओं का अनुभव होता है साथ ही यह भी अनुभव होता है कि इन संवेदनाओं में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, उत्पाद-व्यय हो रहा है, वह मेरा रूप नहीं है, मैं नहीं हूँ; मैं इनसे भिन्न, इनका द्रष्टा, अव्यय, अनुत्पन्न, ध्रुव, शाश्वत हूँ। मुझे इन संवेदनाओं के प्रति आत्मभाव नहीं रखना है।

वीतराग की आज्ञा वीतरागरूप है। वीतरागरूप है राग-द्वेष रहित होना। अतः संवेदनाओं के प्रति राग-द्वेष नहीं करना, समभाव (सामायिक) में रहना वीतराग मार्ग का अनुसरण करना है। वीतराग-मार्ग का अनुसरण करना आज्ञाविचय है।

संवेदनाओं के प्रति अनित्यता का बोध जगाये रहना अनित्यानुप्रेक्षा है। अनुकूल सुखद संवेदनाओं का आश्रय न लेना तथा अशरणता का बोध जगाये रखना अशरणानुप्रेक्षा है। प्रतिकूल दुखद संवेदनाओं के प्रति तटस्थता का बोध जगाये रहना संसारानुप्रेक्षा है तथा मेरी अविनाशी, ध्रुव तत्व से एकता है हय बोध जगाये रहना एकत्वानुप्रेक्षा है। ये चारों अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) आज्ञाविचय को पुष्ट करती हैं। इनका विशेष विवेचन आगे किया जायेगा तथा ये चारों अनुप्रेक्षाएँ आगे वर्णित अपायविचय, विपाक-वचय एवं संस्थानविचय को भी पुष्ट करती हैं।

www.jainelibrary.org

अपायविचय—अपाय दोष या दूषण का अनुभूति के साथ विचार करना अपायविचय है। अंतर्लोक में आत्म-निरीक्षण करते हुए चित्त में उत्पन्न राग, द्वेष, विषय, कषाय, असंयम आदि दोषों को देखना अपाय है और उन अपायों को अनित्य जानकर उनके प्रति तटस्थ भाव बनाये रखना, उनके प्रवाह में न बहना, उनका समर्थन व पोषण न करना, उनके संसरण को देखते हुए उनसे अपने को भिन्न अनुभव करना अपायविचय है।

विपाकविचय—अपाय (दोषों) से उत्पन्न विपाक (परिणाम) का विचार करना विपाकविचय है। अंतर्लोक में आत्म-निरीक्षण करते हुए संवेदनाओं में स्थूलता, जड़ता, मूर्च्छा, अनुकूलता (सुखद), प्रतिकूलता (दुखद), पुलकायमान, आदि स्थितियों का अनुभव करना विपाक है।

विपाकरूप इन संवेदनाओं को अनित्य जानकर उनके प्रति समभाव बनाये रखना विपाक-विचय है।

संस्थानविचय—पुरुषाकार लोक का आकार संस्थान कहलाता है। चित्त को शान्त कर अंतर्लोक में अन्तर्मुखी होकर देखने पर सम्पूर्ण अन्तर्लोक में चिन्मयता (चैतन्य) लोकातीत अवस्था का अनुभव होता है तथा दृश्यमान शरीर-संसाररूप सम्पूर्ण लोक से भिन्न निज स्वरूप का बोध होता है। लोक के स्वरूप का बोध करते हुए उसके प्रति समभाव बनाये रखना संस्थानविचय है।

धर्मध्यान के लक्षण

धर्म-ध्यान के चार लक्षण हैं—

(१) आज्ञा रुचि, (२) निसर्ग रुचि,
(३) सूत्र रुचि, (४) अवगाढ़ रुचि।

(१) **आज्ञा रुचि**—रुचि का अर्थ है रुचिकर, रोचक लगना, दिलचस्पी, मानसिक झुकाव। आणाए सच्चाए (आचारांग) सूत्र के अनुसार सत्य ही आज्ञा है। सत्य वह है जो शाश्वत है, कभी नहीं बदलता है, अविनाशी है। अविनाशी है निज स्वरूप। अतः अविनाशी निज स्वरूप के प्रति रुचि रखना, उसका अच्छा लगना, आज्ञा रुचि है। दूसरे शब्दों में, अविनाशी व मुक्तिरूपी ध्येय के प्रति रुचि होना आज्ञा रुचि है अथवा वीतराग मार्ग में रुचि होना आज्ञा रुचि है।

(२) **निसर्ग रुचि**—सत्य व आज्ञा वही है जो कृत्रिम नहीं है प्रत्युत नैसर्गिक है। निसर्ग का अर्थ है जो किसी के द्वारा सर्जित नहीं है, प्राकृतिक है। अतः प्रकृति से जो भी हमारे साथ घटित हो रहा है उसमें अपना हित समझना निसर्ग रुचि है। कारण कि जो भी घटित हो रहा है वह कर्मोदय का परिणाम है। इस प्रकार प्रकृति कर्मोदय कर कर्मों की निर्जरा करने का कार्य कर रही है, कर्म की निर्जरा हमारा हित ही है। यदि प्राकृतिक या नैसर्गिक रूप से हमारे कर्मों की निर्जरा स्वतः सतत न होती रहती तो प्राणी जड़ कर्मों के भार व संग्रह से जड़वत् हो गया होता।

प्रकृति के विपरीत कार्य करना विकृति या विकार पैदा करना है। विकृति या विकार दोष है। दोष का परिणाम दुख है। अतः दोष व दुख से बचने के निसर्ग का सहारा लेना अनिवार्य है। इस दृष्टि से निसर्ग का अत्यन्त महत्व है। निसर्ग का विरोध कर कोई भी सफलता व सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। ध्यान-साधक इस रहस्य को समझता है। अतः उसकी निसर्ग के प्रति रुचि होना स्वाभाविक है। निसर्ग से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो भी घटित हो रहा है उसमें सदैव प्रसन्न रहना उसके प्रति राग-द्वेष रूप प्रतिक्रिया नहीं करना, समभाव से रहना निसर्ग रुचि है।

(३) **सूत्र रुचि**—निसर्ग के नियम सूत्र हैं। निसर्ग के नियम कारण-कार्य का अनुगमन करने वाले होने से सत्य हैं, स्वतः सिद्ध हैं, तर्कातीत हैं, जैसे (जो क्रोध करेगा उसका हृदय जलेगा, जो कामना करेगा उसके चित्त में अशांति होगी।) जे गुणे ते मुलट्ठाणे— अर्थात् भोग ही संसार का मूलस्थान है, कम्मबीजं—राग द्वेष कर्मबीज हैं। 'अप्पा कत्ता विकत्ता सुहाण य दुहाण य—आत्मा स्वयं ही सुख-दुख का कर्ता अकर्ता है। ये नैसर्गिक नियम हैं—सूत्र हैं। इन सूत्रों के प्रति रुचि होना सूत्र रुचि है। वीतराग वाणीरूप आगम में भी इन्हीं नैसर्गिक सूत्रों का संकलन है अतः वीतरागवाणी के प्रति रुचि होना सूत्र रुचि है।

(४) **अवगाढ़ रुचि**—अवगाहन करना-गहरा उतरना अवगाढ़ कहा जाता है। आज्ञा, निसर्ग एवं सूत्र की गहराई में पैठने की रुचि अवगाढ़ रुचि है। साधक द्वारा अपने ही अन्तर्लोक में प्रवेश कर आत्म-निरीक्षण करते हुए आज्ञा (सत्य), निसर्ग एवं सूत्र का साक्षात्कार करने के लिए रुचि रखना अवगाढ़ रुचि है। सत्य, निसर्ग एवं सूत्र की यथार्थता का अनुभव अपने अन्तर्जगत में गहरे पैठने से ही होता है, अतः अवगाढ़ रुचि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन चार लक्षणों से धर्मध्यान पहचाना जाता है।

धर्म-ध्यान के आलम्बन अर्थात् सहयोगी अंग चार हैं—

(१) वांचना, (२) पृच्छना,
(३) परिवर्तना और (४) धर्मकथा।

वाचना—नैसर्गिक सत्य पर आधारित जो सूत्र (नियम) हैं उनका ज्ञान होना वाचना है।

पृच्छना—पृच्छना जिज्ञासा को कहते हैं, उन सूत्रों (नियमों) के मर्म-रहस्य को जानने की जिज्ञासा पृच्छना है।

परिवर्तना—उन सूत्रों को हृदयगंम करने के लिए बार-बार चिन्तन-मनन करना परिवर्तना है।

धर्मकथा—उन सूत्रों में निहित सत्य कथन का साक्षात्कार करने का पुरुषार्थ करना धर्म-कथा है।

स्मरण रहे कि जिस वस्तु का जो आलम्बन होता है वह उससे भिन्न होता है। आलम्बन वस्तु नहीं होता है। इसी प्रकार उपर्युक्त चारों आलम्बन धर्म-ध्यान की प्राप्ति में सहायक हैं, परन्तु धर्म-ध्यान नहीं हैं। कारण कि इनमें चिन्तन-चर्चा चलती है और जब तक चिन्तन व चर्चा चलती है तब तक चित्त एकाग्र नहीं होता है, अन्तर्मुखी नहीं होता है, आत्म-साक्षात्कार नहीं होता। धर्म-ध्यान है—आत्म-साक्षात्कार करना। अतः ये आलम्बन धर्म-ध्यान के साधन हैं, धर्म-ध्यान नहीं हैं।

वस्तुतः ये चारों आलम्बन स्वाध्याय तप के अंग हैं जो ध्यान की पूर्ववर्ती अवस्था है। स्वाध्याय तप के बिना ध्यान में प्रवेश सम्भव नहीं है। स्वाध्याय तप का पांचवां भेद अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा के दो रूप हैं चिन्तन और साक्षात्कार (अनुभव, बोध)। अनुप्रेक्षा का चिन्तन रूप का समावेश स्वाध्याय तप में हो जाता है और उसका बोध, साक्षातकार (अनुभव) रूप धर्म-ध्यान में प्रकट होता है। अतः अनुप्रेक्षा को स्वाध्याय और ध्यान दोनों में स्थान दिया गया है। ध्यान में अनुप्रेक्षा अनुभव रूप में है और स्वाध्याय में चिन्तन रूप में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(स्वरूप का अध्ययन करना स्वाध्याय है—अध्ययन में वाचना, जिज्ञासा, पृच्छना, परिवर्तना, चिन्तन-मनन-कथन समाहित है।)

धर्म-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—

(१) एकत्वानुप्रेक्षा, (२) अनित्यानुप्रेक्षा,

(३) अशरणानुप्रेक्षा, (४) संसारानुप्रेक्षा।

एकत्वानुप्रेक्षा—एकत्व का अर्थ एकता व अकेलापन है। साधक ध्यान की गहराई में अपने को संसार और परिवार से ही नहीं अपितु अपने को अपने तन से भी भिन्न 'अकेला' पाता है। वह संयोग में वियोग का अनुभव कर अकेलेपन का साक्षात्कार करता है साथ ही ध्यान-साधक ध्यान में आत्म-साक्षात्कार करता है तो उसे अविनाशीपन, ध्रुवत्व का बोध होता है। वह अनुभव करता है कि उसकी अविनाशी (सिद्ध) से एकता है। अविनाशी और वह एक ही जाति के हैं, केवल दोनों में गुणों की अभिव्यक्ति की भिन्नता है। कहा भी है 'सिद्धां जैसा जीव है जीव सोई सिद्ध होय,' यह भिन्नता मिटने पर वह सदैव के लिए अविनाशी अवस्था को प्राप्त हो सकता है। साथ ही वह आत्म-निरीक्षण से यह भी देखता है कि अन्तर्लोक में शरीर, मन और संवेदनाओं में निरन्तर परिवर्तन (पर्याय-प्रवाह) चल रहा है अतः ये सब विनाशी जाति के हैं। इन सबमें जातीय एकता है। अविनाशी जाति का होने से मेरी इन विनाशी जाति वाले पदार्थों से भी भिन्नता है, ये पर हैं। इस प्रकार पर से अपनी भिन्नता का अनुभव कर अपने स्वरूप में स्थित हो अविनाशी से एकता (एकरूपता) का अनुभवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है, यही आचारांग सूत्र में कथित ध्रुवचारी बनने की साधना है।

अनित्यानुप्रेक्षा— साधक ध्यान में अन्तर्लोक में प्रवेश कर आत्म-निरीक्षण करता है तो अनुभव करता है कि जैसे बाह्य लोक में सब पदार्थ बदल रहे हैं उसी प्रकार भीतर के लोक में भी शरीर का अणु-अणु और संवेदना सबके सब प्रति पल बड़ी तीव्र गति से बदल रहे हैं। सर्वत्र उत्पाद-व्यय का प्रवाह सतत चल रहा है। देखते ही देखते संवेदना उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। संसार में दृश्यमान व प्रतीयमान कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो नित्य हो, सब अनित्य हैं, विनाशी हैं। सुख, दुख, परिस्थिति, अवस्था, तन, मन, धन, स्वजन, परिजन, मित्र, भूमि, भवन, सब अनित्य हैं। राजा, राणा, सम्राट, चक्रवर्ती, शहंशाह, सेठ, साहूकार, विद्वान, धनवान, सत्तावान, शक्तिमान, सब अंत में मरकर मिट्टी में मिल जाते हैं। पानी के पताशा जैसा तन का तमाशा है। संसार के सब पदार्थ क्षण-क्षण क्षीण होकर नाश हो रहे हैं, क्षणिक हैं। हाथी के कान के समान, संध्या के सूर्य के समान, ओस की बूंद के समान, पीपल के पात के समान, अस्थिर हैं। अनित्य का मिलना भी न मिलने के समान है अर्थात् मिलना न मिलना दोनों एक समान हैं, अतः अनित्य पदार्थों को चाहना, उनका भोग भोगना सब व्यर्थ है। ऐसी प्रज्ञा से प्रत्यक्ष अनुभव कर समता में स्थित रहना, उनके प्रति राग-द्वेषात्मक प्रतिक्रिया न करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

अशरणानुप्रेक्षा- ध्यान में साधक अन्तर्जगत में शरीर व संवेदनाओं की अनित्यता का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। इस अनुभूति से वह जानता है कि अनित्य पदार्थों का शरण लेना आश्रय लेना, उनके सहारे से जीवन मानना, भूल है। कारण कि जो पदार्थ स्वयं ही अनित्य हैं उनका सहारा या शरण कैसे नित्य हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। अतः अनित्य पदार्थ का सहारा, आश्रय, शरण लेना धोखा खाना है। ध्यानमग्न साधक देखता-अनुभव करता है कि तन ही प्रति क्षण बदल रहा है अतः यह आश्रय शरण लेने योग्य नहीं है, शरणभूत नहीं है। जब तन ही शरणभूत नहीं है, आश्रय योग्य नहीं है तब धन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिजन, स्त्री, मित्र आदि आश्रय लेने योग्य हो ही नहीं सकते। ऐसा अनुभूति के स्तर पर बोधकर अनित्य पदार्थों का आश्रय त्याग कर देना, अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाना अशरणानुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा—साधक जब ध्यान की गहराई में प्रवेश करता है तो अनुभव करता है कि संवेदनाएँ उसे अशान्त बना रही हैं, जला रही हैं, सारा अन्तर् और बाह्य लोक प्रकंपन की आग में जल रहा है। संसार में एक क्षण भी लेश मात्र भी सुख नहीं हैं। जो बाहर से साता व सुख का वेदन हो रहा है वह भी भीतरी जगत में दुख रूप ही अनुभव हो रहा है, आकुलता, उत्तेजना पैदा कर रहा है। संवेदना चाहे वह सुखद ही हो वस्तुतः वह वेदना ही है अर्थात् दुख रूप ही है। दुख से मुक्ति पाने के लिए इस संसार से, शरीर से अतीत होने में ही कल्याण है अर्थात् लोकातीत, देहातीत, इन्द्रियातीत होने में ही अक्षय, अव्याबाध, अनन्त सुख की उपलब्धि सम्भव है।

इन चारों अनुप्रेक्षाओं में से एकत्वानुप्रेक्षा से ध्रुवता—अमरत्व का अनुभव, अनित्यानुक्षा से वैराग्य, अशरणानुप्रेक्षा से पराश्रय (परिग्रह) का त्याग, संसारानुप्रेक्षा से संसार से अतीत के जगत में प्रवेश होता है। इसे ही आगम की भाषा में व्युत्सर्ग कायोत्सर्ग कहा है। व्युत्सर्ग अर्थात् लोकातीत होना, कायोत्सर्ग अर्थात् देहातीत होना ध्यान से उत्तरवर्ती स्थिति है।

उपसंहार—मानव वही है जो साधक है। साधक वह है जो साधना करता है। साधना है बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने का क्रियात्मक रूप व प्रक्रिया धर्म-ध्यान है। धर्म-ध्यान से ग्रन्थियों का वेधन व दमन होकर पर का तादात्म्य टूटता है। तादात्म्य टूटने से कर्म कटते हैं। कर्म का कटना ही बन्धन से छूटना है, मुक्त होना है। अतः धर्म-ध्यान साधना का आधार है, सार है। यही कारण है कि जब कोई भी व्यक्ति श्रमण के दर्शनार्थ आता है तो श्रमण उसे आज भी "धर्म-ध्यान करो" इन शब्दों से सम्बोधित करता है। जो धर्म-ध्यान की महत्ता का सूचक है।

धर्मध्यान रहित जीवन साधक का जीवन नहीं है। भोगी जीवन है। भोगी जीवन पशु-जीवन है, मानव-जीवन नहीं। अतः मानव जीवन की सार्थकता तथा सफलता इसी में है कि धर्म-ध्यान को धारण कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होवें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org